जीने के लिए चाहिए सारे-के-सारे औजार

प्रफुल्ल कोलख्यान

युवा कवि प्रेम रंजन अनिमेष का नाम हिंदी कविता की समकालीन दुनिया में परिचित है। आनेवाले दिनों में हिंदी कविता का रूप और वस्तु जिन कवियों के सर्जनात्मक प्रयास से खिलेगा उनमें एक संभावनाशील नाम प्रेम रंजन अनिमेष का भी है। 'मिट्टी के फल' उन का पहला कविता संग्रह है। पहलेपन में अपना एक खास आकर्षण भी होता ही है। एक अलग किस्म की प्रत्याशा। सरोकर के एक नये सूत्र का उन्मेष। जीवन के आकाश में संवेदना और सौंदर्य की खुलती हुई एक और नई खिड़की। केदारनाथ अग्रवाल के आँगन में 'एक हथौड़ेवाले' के जन्म की तरह से संभावनाओं के संधान का एक नया संदर्भ। कहना न होगा कि प्रेम रंजन अनिमेष की कविता हिंदी कविता का बिल्कुल टटका संदर्भ है। स्वाभाविक ही है कि पाठक उनके काव्य संकलन 'मिट्टी के फल' से उस टटकेपन की आशा करे। एक नई काव्य उष्मा और जीवन संबंधों की नई सुषमा की सुगंध 'मिट्टी के फल' में पाठक तलाश करे, तो क्या अचरज! उसे हक है। अपनी इस तलाश में पाठक को कई चुनौतियों से भी गुजरना पड़ सकता है। 'मिट्टी के फल' का अर्थ वह कैसे हासिल करे! दो लोकोक्तियों की ओर सहज ही ध्यान जाता है– पहला 'मिट्टी के माधो' और दूसरा 'मिट्टी के लाल'। ये लोकोक्तियाँ 'मिट्टी के फल' के अर्थ चयन में मददगार साबित हो सकती हैं। यहाँ मिट्टी 'मिट्टी के फल' वैसे ही हैं, जैसे होते हैं 'मिट्टी के लाल'। मिट्टी से बना हुआ फल या मिट्टी से ऊपजा हुआ फल के अर्थ द्वंद्व से बाहर निकल आने का मिलता है रास्ता! 'मिट्टी के फल' में संकलित प्रेम रंजन की कविताओं के संदर्भ मिट्टी से बने हुए फल से टकराते हुए मिट्टी से ऊपजे फल की ओर सार्थक संकेत करते हैं। कहना न होगा कि मिट्टी

का बड़ा व्यापक अर्थ है और अर्थ की इस व्यापकाता का अंतिम आश्रय कविता ही तो हो सकती है! ‘मिट्टी’ और ‘कुम्हार’ के संवाद की साखी धरकर कह गये हैं कबीर दास कि दोनों एक-दूसरे को रूँधते हैं; दोनों एक दूसरे को बनाते रहते हैं। सिरजते रहते हैं एक दूसरे को अंतिम समय तक जैसे ‘अंतिम समय तक/ गर्भ में कर फेरता रहा शिशु// जैसे घट के भीतर कुम्भकार!’ (अंतिम समय तक)। जैसे देख लेते हैं केदारनाथ सिंह कुम्हार की आँख में बचे हुए बाघ को! जैसे जन्म होता है माँ का और शिशु का साथ-साथ। इस सहजन्म से लिपटकर आता है सृजन के आनंद में अंतर्निहित संतोष और सृजन की पीड़ा से राहत! ‘जन्म हो गया!/ आवजें उभरीं/ और राहत की साँस ली/ मैंने माँ के लिए/ माँ ने मेरे लिए...’ (मैं और माँ जन्म ले रहे थे साथ-साथ)। बच्चे को जन्म देने के पहले नहीं होती है कोई नारी माँ! बच्चे के जन्म के साथ-ही-साथ जन्म होता है माँ का भी! जैसे कविता बनने के साथ ही बन रहा होता है कवि भी! अद्‌भुत है यह सृजन-चक्र जिस में सर्जक और सृजित का सृजन जीवन का एक सहघटित आयाम होता है!

समय अर्थात जीवन की घटनावलियों के अंतस्संबंधों की बहुरेखीयता एवं बहुआधारीयता के अंतर्लापी संवेदार्थों को समझने और उनसे संवाद के कई तरीके हो सकते हैं। उन तरीकों में एक महत्त्वपूर्ण और बहुसंदर्भी सांस्कृतिक तरीका कविता है। कविता न सिर्फ इन अंतर्लापों को दर्ज करती है बल्कि जीवनानुभव के संचित कोष के राग और अनुराग का जरूरी हिस्सा भी बनाती चलती है। जैसे जीवन में होते हैं कई कोण–– दृष्टिकोण भी और अंधकोण भी–– उसी तरह कविता में भी होते हैं कई कोण। सभ्यता की जटिलताओं के कारण मनुष्य का जीवन ऊपर से अलग-अलग, आत्मनिर्भर और निरपेक्ष दीखता है। जबकि होता है भीतर से पूरी तरह संयुक्त, संपृक्त, परमुखापेक्षी और सापेक्षी। सभ्यता के विकास की अंतर्यात्रा पर गौर करने से यह बात सामने आती है कि इसके विकास में ही समय के साझापन के विकसित होते जाने का मर्म भी अंतर्निहित होता है। यह साझापन ही है जिसके कारण व्यक्ति के किये को पूरे समुदाय का कृत्य मानकर लोग चलने लगते हैं। यह अलग बात है कि इसकी चरम अभिव्यक्ति आजकल नकारात्मक संदर्भों में ही अधिक होती है। साझापन कभी खराब नहीं होता, हम ऐसा मानते हैं। लेकिन दिक्कत यह कि ढाँचा और अंतर्वस्तु के जिस विपर्यय में हम पहुँच गये हैं वहाँ साझापन के ढाँचे में भी विच्छिन्नता के विषाणु पलते हैं। भूमंडलीकरण के इस समय में एक अद्‌भुत साझापन विकसित हुआ है। देश-काल, भाषा-भाव, प्रवृत्ति-निवृत्ति, संस्कृतियों के प्रेतों के साझापन की प्रतिभा एक दूसरे से संधि में नहीं एक के दूसरे में सेंध के रूप में सामने आ रही है। क्या इस समय एक खतरनाक साझापन के

दौर से नहीं गुजर रहे हैं हम लोग! ऐसा क्यों हो रहा है? यह विस्तार में अलग से विचारणीय है। यहाँ तो बस इतना ही प्रयोज्य है कि इस साझा समय की कविताओं में समय का साझापन अपने को किन रूपों में अभिव्यक्त करता है।

आज के 'ऋण-ग्रस्त समय' का संकट यह भी है कि कोई किसी का 'ऋणी' नहीं है। 'कृतज्ञता' और 'कृतघ्नता' समकालीन बोध नहीं रह गया है। महत्त्वपूर्ण यह है कि ऐसे में भी प्रेम रंजन की काव्य संवेदना यह बात उठा पाती है कि 'जिन-जिनके ये हुनर/ सब का आदर/ सबकी बाकी है गुरु दक्षिणा/ सब से सीखा आँख बचाकर/ चरवाहों के चैन और हाटवालों की हड़बड़ी के बीच/ सोचता हूँ छू सकूँ जीवन को जितनी कोरों से/ और फिर यह चाह भर नहीं/ यही शर्त/ ज़िंदा रहने की/ इत्ते से वक्त और बित्ते-से आकाश में// मारने या मरने के लिए काफ़ी है/ एक चोट एक धार// जीने के लिए चाहिए सारे-के-सारे औजार!' (साज-बाज)। किस प्रकार 'इत्ते से वक्त' और 'बित्ते-से आकाश' में जीवन को उसकी कोरों से छू सकने की ललक सिर्फ चाह जहीं जीने की शर्त्त बन जाती है, इसे यहाँ महसूस किया जा सकता है। अन्यथा यह भी लक्षित किया जा सकता है कि जीने की इस शर्त्त को ठीक से पूरा नहीं कर पाने के कारण भी जीवन कितना अधिक अधूरा-अधूरा बनकर रह गया है।

रोजगारहीन वृद्धि के इस समय में प्राकृतिक संसाधनों के भयंकर दुरुपयोग का तांडव चल रहा है। जीवन नये हाहाकार से ग्रस्त है। सब कुछ जैसे तहस-नहस होने के कगार पर पहुँच गया है। चारों तरफ पर्यावरण का संकट। जीने के उपाय जो मनुष्य ने अपने पराक्रम से अर्जित किये थे उन पर कुछ खास लोगों का कब्जा होता जा रहा है। आम आदमी के लिए तो सहज लभ्य प्राकृतिक संधानों के स्रोत भी छीजते जा रहे हैं। कहाँ और कैसे बचेगा जीवन और उसका आनंद! आशंकाएँ यह कि 'क्या सच में एक दिन/ स्वच्छ जल रह जायेगा केवल नारियल में/ और खाली बाँस के खोल में साँस की हवा' (बच्चे की स्लेट पर लिखे कुछ सवाल)। आशंकाएँ तो यह भी कि कैसे बचेगा नारियल और कैसे बचेंगे बाँस! कहते हैं अरविंद चतुर्वेद 'सभ्यता का तकाजा है कि/ जिम्मेदार नागरिक का एक पाँव भरोसे पर/ और दूसरा सहानुभूति पर टिका रहे।' (सुंदर चीजें शहर के बाहर हैं: आँकड़ों का सच)। आज न भरोसा निरापद है, न सहानुभूति! यह भरोसा, सहानुभूति और विश्वास ही तो नहीं रहा, न रहा हर हाल में इन्हें बचाने के लिए तत्पर साथी का साथ, जीवन में जिसे बचना चाहते

हैं अरुण कमल कि 'लेकिन इतना तो है कि रुक जाऊं अगर/ तो टूटेगा विश्वास/ और यही तो हर हालत में/ हमें बचाना है, चलिए साथी (नये इलाके में: यही बचाना)। हम कहते रहे भाषा में कि चलिए साथी, चलिए साथी। लेकिन ठिठके रहे क्योंकि 'मैंने दरवाजे बंद किये/ और कविता लिखने बैठा/ बाहर हवा चल रही थी/ हल्की रोशनी थी/ बारिश में एक साइकिल खड़ी थी/ एक बच्चा घर लौट रहा था// मैंने कविता लिखी/ जिसमें हवा नहीं थी/ साइकिल नहीं थी बच्चा नहीं था/ दरवाजे नहीं थे।' (मंगलेश डबराल: हम जो देखते हैं)। नतीजा यह कि 'टूटकर गिरी नहीं छत/ टूटकर गिरा सिर्फ भरोसा/ झरे नहीं दीवार के पलस्तर/ भरभराकर झर गये इरादे/ दरवाजे भी सब दुरुस्त/ और खिड़कियों का काँच भी नहीं चटखा/ फिर कहाँ बिला गयीं उम्मीदें!' (अरविंद चतुर्वेद: सुंदर चीजें शहर के बाहर है)। राजेश जोशी की कविता में भरोसे की जिस डोर पर चला करता था जीवन को जीनेवाला नट वह डोर ही लरज गई! कुछ भी सुनिश्चित नहीं रहा! प्रेम रंजन अनिमेष के काव्यानुभव के पास आशंकाओं से घिरा ऐसा ही बचा जीवन कि 'चिट्ठी डाल दी है सवाधानी से/ और सुनी है उसके गिरने की आवाज़ भी/ फिर भी थपथपाकर पत्र पेटी/ डालकर हाथ/ देखता हूँ कहीं/ बीच में अटकी तो नहीं रह गयी' (सुनिश्चित)। हाँ बीच में ही अटक गया है जीवन, जैसे जीवन में भटक गया है छद्म रहित विनय। ऐस इसलिए हुआ कि हम अपनी गतिहीनता को पीठ पर लादे विशेषज्ञों की दुनिया में भटकने को बाध्य हुए और 'विशेषज्ञ जिस सभ्यता को रचते हैं/ और जिसका वर्णन करते हैं/ वह टीवी के पर्दे पर हो/ या अखबार के पन्नों पर/ समूचे परिदृश्य में महज एक धब्बा-सा नजर आता है।' (अरविंद चतुर्वेद: सुंदर चीजें शहर के बाहर हैं)। विशेषज्ञों की रची दुनिया के बाहर, जीवन में छायी अमरवेलि सरीखी छद्म-विनयशीलता के धुरफंदे से बाहर निकलना ही होगा। यह साहस विशेषज्ञ, ज्ञानी और विज्ञानी नहीं कर सकते! प्रेम रंजन की कविताएँ कह सकती है क्योंकि वह जानती है कि 'भाषाविज्ञानी नहीं मैं/ लेकिन जाने क्यों लगता है/ किसी जुबान की धार के लिए/ लौटना होगा अपनी गालियों के पास// और हलाँकि समाजशास्त्र उतना ही/ जानता हूँ जितना पेड़ की जड़ें/ मगर यह भी लगता है/ जब कहीं नहीं रहेंगे/ तो गालियों में ही बचे रहेंगे रिश्ते' (गालियाँ)। गालियों में गुस्सा है। गालियों में घृणा है। अकेले पड़ते जा रहे मनुष्य की सारी रिश्तेदारियाँ एक विचित्र किस्म की सामाजिक नि:संगता की बंद गलियों में फँसकर दम तोड़ रही है। भाषा की भटकती चर्या बची रह सकती है गालियों में। ऐसे में बचा रह सकता है गालियों में संबंध का अचरज, जैसे नारियल में पानी और बाँस के खोल में साँस की हवा! संबंधों के उजाड़ के अरण्य में भी अंतत: बची रह सकती है गालियों में भाषा की धार! कविता के होने के लिए ना-काफी है लंपट भाषा की दप-दप धार।

कविता को चाहिए उदास जीवन के अंत:करण में बची हुई करुणा का अंतिम राग। कविता को चाहिए ग्लेशियर की आत्मा में सोई हुई आग की अंतिम लौ। कविता को चाहिए प्रथम और प्रथमा के अद्वैत प्रगाढ़ आलिंगन की पहली दीपित एकानुभूति। कविता को चाहिए स्वानुभूति। कविता को चाहिए सहानुभति। कविता है जीवन के राग-विराग का अंतिम आश्रय। पाठक कविता के पास जाता है, जब जाने के लिए नहीं बचती है कोई माकूल जगह। भावनाओं की उष्मा से होने सराबोर। सिर्फ विचार नहीं। यह तो दर्शन से मिल जाता है। सिर्फ उपदेश नहीं। यह तो धर्म के ध्वजधारकों से मिल जाता है। अकुलाते मन के कोर-कोर और जीवन के पोर-पोर में छद्म का समावेश हो जाता है तब इन्हें ध्वस्त करने के लिए जो सबसे बड़ा आश्वासन बचता है मनुष्य के पास उसे वह कविता के नाम से जानता है। 'तिरगुन फाँस' लिये डोलनेवाली माया को कविता ने ही तो जनता की आँखों से उतारा था! सच और झूठ, देश और काल से परे जीवन के उस दिगंत में जहाँ अंत:करण के आयतन के क्षेत्रफल के बीच अच्छा और बुरा, श्रेष्ठ और हीन सब आत्मवत हो जाता है। जिंदा रहने के लिए चाहिए इसे भी जीवन के सारे-के-सारे औजार। एक कठिन समय में एक-एक कर छिनते जाते हैं ये सारे औजार-– जीवन से भी कविता से भी। ऐसे कठिन समय में अपने आहत मन को सम्हालने में सक्षम कविता को भी अर्जित करना दुष्कर होता है। अपने कवि के छितराये हुए मन को ही सम्हाल नहीं पा रही है कविता। अस्त-व्यस्त होते चित्त पर किसी फूल की तरह या गहन अंधकार के आतंक के विरुद्ध जलती हुई बाती की ही तरह पाठक के मन में कविता का उतरना बहुत संभव कहाँ रह गया है। इधर दुनिया का एक छोटा हिस्सा नित-नित नूतन होता जा रहा है तो बड़ा हिस्सा क्षण-क्षण क्षरित भी हो रहा है। इस क्षण-क्षण क्षरित दुनिया में पुराना ही समकालीन है। 'मिट्टी के फल' में संकलित प्रेम रंजन अनिमेष की कविता अपनी पुरानी या कह लीजिये समकालीन जमीन पर तो बेहतर है। इस में संकलित कविताओं में एक प्रकार का टटकापन तो है लेकिन यह टटकापन अंतत: पुरातन का ही है। पाठक को इतने-से संतोष कहाँ! और फिर पाठक नये की उम्मीद नये से भी न करे तो किस से करे! इसे कवि और कविता से उम्मीद के रूप में देखना चाहिए। कवि और कविता पर किसी भी प्रकार के आरोप के रूप में तो कत्तई नहीं देखा जाना चाहिए। इसलिए प्रेम रंजन अनिमेष और उनके साथ के कवियों को पाठकों की उम्मीद पर खरा उतरने की तैयारी करनी है। यह सब इस विश्वास के साथ कि ना-उम्मीदी से बदरंग होती जा रही इस दुनिया में उम्मीद के रंगों को बचाये रखने का एक कारगर तरीका यह भी हो सकता है। लौट सकती है कविता में और जीवन में उम्मीद की धार, जैसे लौट आती है हर प्रसव के साथ माँ के स्तन में दूध की धार। 'मिट्टी के फल' की कविताओं में कई संदर्भों में माँ आती है। जन्म होता है शिशु के साथ माँ का भी। संभव होने के अंतिम समय तक कवि और कविता कर फेरते रहना होगा एक

साथ। कवि और कविता एक बार फिर से दोनों रचेंगे एक-दूसरे को साथ-साथ और लौट आयेंगे उम्मीदों के रंग हजार।

सभ्यता एक सँकरी गली में फँस गई है। इस गली से निकलने के लिए जो यात्रा लौटती हुई दीख रही है वह भी दरअसल सभ्यता की अगली यात्रा ही है। इस यात्रा के पथ का पाथेय है–- साहस, अदम्य साहस; सपना, नींद के बाहर संगठित होता हुआ सपना। संकल्प, यौवन के उमंग से लबालब भरे करुणा से ऊपजे कठोर जल को अंजलि में भरकर लिया गया संकल्प जिसका हौसला न छाता से संतुष्ट हो न छत से। जिसे अकेले पड़ते जा रहे मनुष्य की त्रासदी मालूम हो और जो पूरी शिद्दत से कह सके 'इसलिए/ सोचता हूँ/ मैं लूँगा/ तो लूँगा आसमान/ कि जिसमें सब आ जायें/ और बाहर खड़ा भीगता रहे / बस मेरा अकेलापन'(छाता)।

विचार संदर्भः प्रेम रंजन अनिमेष का काव्य संकलन 'मिट्टी के फल'

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान